मुख्यधारा से जुड़ने का अनवरत संघर्ष

प्रो. प्रभाकरन हेब्बार इल्लत*

शीतल ए.**

शोध सारः

यदि कोई प्राणी इस संसार में जन्म लेता है तो उसको सम्मान के साथ, संपूर्ण अधिकारों के साथ जीने का अवसर प्राप्त हो जाना चाहिए, क्योंकि वह उसका नैसर्गिक अधिकार होता है। बेहद अफसोस की बात यह है कि हमारे समाज के ही किन्नर भाई-बहनों को आत्म-सम्मान के साथ जीने तक का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। यह हकीकत है कि हमारे समाज में 'स्त्री' या 'पुरुष' के रूप में जन्म लेने पर मात्र सामाजिक स्वीकृति-अंगीकार की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत 'स्त्री अनुरागी' (लेस्बियन), 'गे' (पुरुष अनुरागी), 'बाई सेक्सुअल' (द्विलिंगी), 'ट्रांसजेंडेर्स' (हिजड़ा), 'ट्रान्स मेन' (परिवर्तित पुरुष), 'ट्रान्स वुमन' (परिवर्तित स्त्री), 'कोत्ती', 'पांतीस', 'डबस डकर्स' (उभयानुरागी), 'निर्लैंगिक' (असेक्सुअल) आदि लैंगिक विशेषताओं के साथ जन्म लेने पर उस व्यक्ति को सामाजिक बहिष्कार-तिरस्कार-शोषण आदि का सामना करना पड़ता है। 'अन्य' के प्रति दिखाई जाने वाली यह घोर वितृष्णा हमारी सांस्कृतिक दृष्टि की विकृति समझी जानी चाहिए। यह हमारी दुआधारी (बाईनरी) चिंतन पद्धति का नतीजा है।

बीज शब्दः बहुस्वरता, लैंगिकता, समानता, अधिकार

हमारा समाज यह भूल जाता है कि मानव तथा अन्य प्राणिजातों में दिखाई पड़ने वाली इस प्रकार की लैंगिक विविधता प्रकृति की बहुस्वरता का करिश्मा है। एतिरन कतिरवन का कहना कि 'आलबट्रोस पक्षी समेत करीब तिरानबे पक्षी जातों, डोल्फिन, पेनग्विन, बकरी, मकड़ी आदि प्राणी स्ववर्गानुराग के लक्षण प्रदर्शित करते हैं।'[1] उनका तर्क यह है कि लैंगिकता का व्यतिरेक असल में भ्रूण की कला है, उसका निर्णय है। यह स्वीकृत तथ्य है कि हमारी चारों तरफ़ परिलसित प्रकृति अपने आप में वैविध्यमयी स्वरूप को हमारे सामने रखती है, उसका विस्तार जैविक और अजैविक तत्वों में (मानव में भी) दिखाई पड़ना एकदम स्वाभाविक है। इसलिए विवेकसम्मत प्राणी के रूप में प्रकृति की विविधता को समारोहपूर्वक मनाने में ही मानव की संस्कृति व जीवन की समृद्धि-सुंदरता है। लेकिन हमारा समाज प्रकृति की विविधता को लेकर जन्म लेने वाले इनसानों के साथ इनसाफ़ नहीं करता है। इस बेइनसाफ़ी से ऐसे इनसानों के जीवन में अंधेरा भर जाता है। हशिएकरण का शिकार होकर अपने परिवार और समाज के अपने जनों से वह दूर हो जाता है तथा विवाह, सामाजिक मेल-मिलाप आदि की संभवानाओं से वंचित रहकर शीरीरिक-मानसिक पीड़ा-वेदनाओं से आबद्ध होकर शापग्रस्त जिंदगी जीने के लिए विवश हो जाता है। संस्कृत-सभ्य कहे जाने वाले समाज की विकृत लैंगिक अवधारणाएं, धार्मिक-नैतिक-परंपरागत मिथकीय मान्यताएं आदि इस कोटि के लोगों के जीवन को दुष्कर बना देती हैं। संवेदनशील मन यह चाहता है कि समाज के स्त्री-पुरुष के साथ की बराबरी कम से कम इनको भी प्राप्त हो। वे भी हमारे समाज के अधिकारसंपन्न नागरिक हैं। आधुनिक विज्ञान तक यहां बताता है कि ग्रंथिरस (होर्मोन) का

असंतुलन, जनितकीय घटक, पारंपरिक जैविक संरचना, गर्भकालीन शारीरिक स्थिति आदि लैंगिक विभिन्नता के लिए जिम्मेदार तत्व रहे हैं। ऐसे में भिन्न लैंगिकता से संपन्न मनुष्य को हेय व उपेक्षा भरी आंखों से देखना किस नज़रिए से तर्क-न्यायसंगत कहा जा सकता है। विजयराज मल्लिका हिजड़ों की ज़िंदगी पर विचार करते हुए अपनी कविता में लिखती है कि 'भीतिपूर्ण भूतकाल, राक्षसीय रव से परिपूर्ण बचपन, दीवारों से भरा कारा, रक्षाहीन हवेली, बोझिल अंधकार, भ्रमरहीन बगीचा, भावनाहीन चित्रालय, भ्रष्ट-विभ्रम भविष्य की कल्पना, भिक्षुक की सी उपेक्षित जिंदगी आदि हिजड़ा के जीवन के आभूषण हैं।'[2] इन 'आभूषणों' को समकालीन हिंदी साहित्य संबोधित करता है। इस संदर्भ में मैं आपका ध्यान 'पोस्ट बॉक्स नं. 203, नाला सोपारा' नामक चित्रा मुद्गल के उपन्यास की ओर आकर्षित करना चाहता हूं। इसमें 'दिव्यांगी हिजड़ा' (हिजड़ा यहां किन्नर समूह का प्रतीक है) के जीवन के संघर्ष को उपन्यास के नायक विनोद के माध्यम से चित्रित किया गया है, जो अपने जीवन को सार्थक ढंग से जीकर दिखाता है।

सामान्यतः हिजड़ा 'पुरुष' के शारीरिक तथा सांस्कृतिक चिह्नों से परहेज करता है तथा अपने भीतर की स्त्रैण अस्मिता के साथ तदाकार होना चाहता है। इसलिए स्त्री की वेश-भूषा, चाल-चलन, केश आदि का अनुकरण हिजड़ा करता है। लेकिन हमेशा ऐसा नहीं होता है। कुछ लोग पुरुष की तरह जीने की इच्छा भी प्रकट करते हैं। उक्त उपन्यास का नायक खुद पुरुष की तरह जीवन जीता है। कोई किस लैंगिक भावना के साथ जिए या किस प्रकार का पोशाक धारण करे आदि बातें उस अमुक आदमी की वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर हैं। उसपर दखलंदाजी करना तो उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में अधिक्रमण माना जाएगा। इस अधिक्रमण को विकसित जनतंत्रात्मक समाज स्वीकार नहीं कर सकता है। तथाकथित स्त्री-पुरुष से भिन्न होकर अपनी नैसर्गिक लैंगिक इच्छाओं के अनुसरण किए जाने पर हिजड़ा की ज़िंदगी न घर की रह जाती है न घाट की। ऐसी जीवन की परिस्थितियों में वह अपने जीवन में स्वतंत्रता की सुंदरता को अनुभूत नहीं कर पाता है। इस समस्या का परिहार तभी संभव है कि जब परिवार और समाज उसे मानव का दर्जा प्रदान करें, शिक्षा, नौकरी के दरवाजे उसके लिए भी खोलें और सामाजिक जीवन में उसको भी साथ ले चलें। चित्रा मुद्गल का यह उपन्यास हिजड़ा लोगों की सामाजिक जिंदगी की विकल कहानी कहता है और अपने आख्यान में जैविक बहुलता का कदर करता है। इसके अनुरूप उपन्यास का मुख्य पात्र विनोद परंपरागत सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देकर समाज में आत्मनिर्भर होकर जीवन यापन करने का संकल्प लेता है और करके दिखाता भी है। उपन्यास इसकी वकालत करता है कि भिन्न लैंगिकता से संपन्न मानव को भी अधिकार-सम्मान, शिक्षा-दीक्षा, मित्रता-परिवार-विवाह, सत्ता का संरक्षण आदि प्राप्त हो और उसे सभी प्रकारों के शोषण से मुक्ति प्राप्त हो। तभी हमारा समाज ठीक मायने में आधुनिक-आदर्श समाज कहलाने का अधिकारी होगा।

पत्राचार शैली में लिखा हुआ प्रस्तुत उपन्यास का पहला पत्र विनोद (बिन्नी, बिमली) द्वारा 23-03-2011 को लिखा गया है। उपन्यास का अंत भी लगभग एक माफीनामा के साथ हुआ है। यह माफीनामा विनोद के मां-बाप (वंदना बेन शाह और हरींद्र शाह) द्वारा लिखा गया है। माफीनामा की शुरुआत इस प्रकार होती है- "समाचार -एक। 27 दिसम्बर।/1. एक स्वर्गवासी मां का माफीनामा, अपने किन्नर बेटे से घर वापसी की अपील। मैं वंदना बेन शाह, पत्नी श्री हरींद्र शाह- सार्वजनिक

रूप से घोषणा करती हूं, दिनांक 22 नवम्बर, 2011 को अपने पूरे होशोहवास में कि मैं अपने तीनों बेटे सिद्धार्थ शाह, विनोद शाह, मंजुल शाह में से मंझले बेटे विनोद शाह, जिसे लिंग दोष के चलते बरसों पहले हमने जबरन किन्नर चंपाबाई को सौंपकर दुर्घटना में उनकी मृत्यु होने का नाटक रचा था, लोकापवाद के भय से, उस भूल का परिष्करण करना चाहती हूं।"/2. "अपने मंझले बेटे विनोद शाह जिसे हम प्यार से बिन्नी कहकर पुकारते थे, प्रार्थना करती हूं, वह अपनी बा की इस अक्षम्य भूल को क्षमा कर दे और अपने घर वापस लौट आए।"[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में अपने बच्चे के खो जाने पर मां-बाप के मन में, विशेष रूप से मां बा के मन में जो दुख का सागर उभरता है, संवेदित होता है। मां-बाप दिल से अपने बेटे को घर से निकाल दिया तो नहीं, उसे बलात उठा ले लिया गया था। वह भी समाज के तथाकथित मूल्यबोध के बल पर। मां जानती है कि अन्य दो संतानों की भांति विनोद को भी कोख में रखकर ही जन्म दिया था। मां से अपने बच्चे को किसी भी हालत में अलग नहीं किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए विवश करने वाले समाज का मूल्य मानवीय नहीं कहा जा सकता है। संघर्षात्मक आंतरिक-बाह्य जीवन जीने के लिए बाध्य करने वाली संस्कृति उच्च कोटि की संस्कृति नहीं हो सकती है। मां और बेटे के आपसी जैविक संबंध-लगाव के सूक्ष्म परिच्छेद उपन्यास की पंक्तियों में मुखर हैं। वह मां अनुभव करती है कि विनोद के जीवन के 'नरक की हर गली उसकी मां की छाती से होकर गुज़रती है, उसके भीतर दर्द की अंगीठी हर वक्त सुलगती है। इस कारण वह चैन से सो तक नहीं पाती है।' दर्दीले अक्षरों से लिखी गई पंक्तियों में मां, वंदना बेन शाह का प्यार-दर्द घुला-मिला पड़ा है। उपन्सास कहता है- "तू विश्वास कर सकता है तो अपनी बा पर विश्वास न डिगने दे। तू जिस नरक से गुज़र रहा है, वहां मैं तेरे साथ नहीं हूं मगर तेरे उस नरक की हर गली मेरी छाती से गुज़रती है। यकीन कर जब से तू घर से गया है, केसर वाला श्रीखंड, मैंने बनाना ही छोड़ दिया है। जब भी किसी को खाने की इच्छा होती है, अमूल के पैक गिलास मंगवाकर रख देती हूं फ्रिज में।"[4]

'नाला सोपारा' उपन्यास में हमारे जीवन की सांस्कृतिक मूल्यों की अनियमिता अपना सिर दिखाती है। विनोद का जन्म दिव्यांग के साथ हुआ है। घरवाले किसी-न-किसी तरह उस बात को छुपाकर रखने में एक हद तक सफल हो जाते हैं। ऐसा करने के बावजूद विनोद के भाई के मन में 'पारिवारिक सम्मान-मर्यादा' की चिंता घिर जाती है। इससे प्रतीत होता है कि समाज की 'हेय दृष्टि' किस प्रकार समाज के सदस्य में जमी हुई है। विनोद का भाई यहां तक नहीं सोचता है कि जन्म लेने की प्रक्रिया में किसी का वश नहीं चलता है, उसपर किसी की इच्छा काम नहीं करती है। अतएव सवाल यह बनता है कि स्त्री-पुरुष के मानक शरीर की भिन्नता के लिए विनोद जिम्मेदार क्यों और कैसे? संस्कृति की संपन्नता व उच्चता सह-उदर' (सहोदर) के रूप में अपने समाज के सदस्यों को स्वीकार करने में है। तभी समाज में 'बंधुता/मित्रता' पनपेगी। खुद मोटाबाई का जन्म भिन्न लैंगिकता से युक्त हुआ होता तो क्या होता? क्या तब वह सामाजिक-पारिवारिक अपवर्जन को कलेजे से लगाता? मोटा भाई के मन में आशंका यहां तक भरी हुई है कि शादी के बाद उसकी पत्नी (सेजल) मां बनने वाली थी, तब मोटा-भाई की प्रार्थना यही रहती है कि बच्चा स्त्री या पुरुष के रूप में ही जन्म ले। ऐसी भावना सामाजिकों के मन में फैली हुई अपवर्जन की संस्कृति को तथा तज्जन्य होने वाली आशंका को ही द्योतित करती है। इससे यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि

अपने ही घरवालों के तिरस्कार के छोटे-मोटे पीड़ात्मक अनुभव विनोद ने अपने बचपन में अनगिनत झेल लिए होंगे। रोज़ाना यह अपवर्जन क्या किसी इनसान द्वारा सहा जा सकता है! इससे जीवन से भाग खड़े होने की इच्छा मन में जाग्रत होती है। विनोद के मन में यह भावना राख के अंगारों की भांति पहले से ही सुप्त रूप में पड़ी हुई थी। अपनी मां के नाम लिखी गई एक चिट्ठी में विनोद खुल्लम-खुल्ला इस बात को रखता भी है। अपने को समाप्त करने का संकल्प कब एक मानव ले सकता है, अंदाज़ा लगाया जा सकता है। जब आशा की किरणें, सांत्वना के पल, प्रेम के क्षण, तसल्ली की छाया, भविष्य का तारा सब एक-एक करके बुझ जाने पर मानव खुदकुशी के बारे में सोचता है। इसकी एक लंबी प्रक्रिया होती है। विनोद क्या कहता है, पढ़िए- "उचाट मन। धिक्कार से भरा। विधि की विडम्बना के नाम पर झेलने का बूता नहीं बचा। कब तक लड़े कोई अपने से, अपनों से।/पप्पा की इच्छा पूरी ही न कर दी जाए?/किस्सा खतम!/कहां मरूं? मरूं तो कैसे मरूं?/कैसे जन्मू यह तो नहीं चुन पाया। मौत चुन सकता हूं।/ शहर में मरूंगा तो लाश किन्नरों के हाथ लगेगी। किन्नरों के विधि-विधान से मौत का निपटारा होगा। किन्नर के रूप में मैं मरना नहीं चाहता। अपनी मर्जी से मर सकता हूं तो मौत का निपटारा भी मेरी मर्जी से ही होना चाहिए। ऊंचे पहाड़ पर जाकर मरना उचित होगा। हजारों फीट गहरी अलंघ्य जटिल घाटी में कौन खोजेगा मेरी लाश को? लाश के टुकड़ों से चिपककर तुझे भी छाती कूटने का मौका नहीं मिलेगा। यही तो चाहता हूं मैं तुझे अन्देशा मेरी चिट्ठियां न पहुंचने से ही होगा, जब तू पोस्ट बॉक्स नम्बर 203, नाला सोपारा से लगातार खाली हाथ लौटेगी। इतनी हिम्मत तुझमें नहीं होगी कि तू मेरे लिखे पते पर किसी को भेजकर मेरे बारे में पता करवाए। खोजना होता तो तू पहले ही ऐसा कर चुकी होती। यह बात नहीं है बा कि तुझमें हिम्मत नहीं है। औरतें अपनी हिम्मत का इस्तेमाल ही नहीं करतीं। उनकी अपनी आंखें नहीं होतीं। वे अपनी आंखों को आंखों के कोटरों से स्वयं अपने हाथों से निकालकर अपने पति और बच्चों की जेबों में सरका देती हैं।"[5] जीवन जीने तक की चाहत को कुंद कर देने वाले सामाजिक इनकार के लिए, अपने लिए प्राप्त जीवन को अभिशप्त मानने के लिए विवश करने वाली विकट जीवन परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार किसे ठहराया जा सकता है, इसपर विचार करने के लिए उपन्यास हमें मज़बूर करता है।

रूसो ने एक बार कहा था कि मनुष्य का जन्म सब कहीं स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में होता है और वह सब कहीं बंधनों से गिरफ्त रहता है। मृत्यु पर्यंत समाज के परंपरागत नैतिक-सांस्कृतिक बंधनों में फंसा मानव दुख भोगता है। विनोद ऐसे बेशुमार बंधनों द्वारा निर्मित एक काल्पनिक (अयथार्थ) कारावास में नारकीय जीवन बिताता है। इस कारा से मुक्त होने की अदम्य आकांक्षा विनोद में भरा हुआ है, जो विकसित सामाजिक व अधिकार चेतना का परिणाम है। बंधनों से गिरफ्त हो जाने पर भी विनोद अपने परिवार और इतर के साथ, विशेषतः मां के साथ के रागारुण संबंधों को बरकरार रखते हुए जीवन को समृद्ध करने की मशकत करता है और साथ ही साथ सामाजिक संबंधों के विपुल संजाल को वह निर्मित करता है। इन्हीं संबंधों से उत्पन्न भाव-तरलता ही संघर्ष भरी जिंदगी में विनोद के लिए उम्मीद की किरण बनकर आती है। पाठक यह भी अनुभव करता है कि विनोद की मासूम मां भी समानांतर दुःख के पहाड़ ठोते हुए कुरुक्षेत्र की लड़ाई आजीवन लड़ती है। इसके लिए न विनोद जिम्मेदार है, न माता। हमारी अलोकतांत्रिक संस्कृति-

सभ्यता ही इसके लिए जिम्मेदार है। हमारा समाज कुछ शरीरों को रहने-बसने की अनुमति देता है और कुछ को नहीं। समाज उसे बरखास्त करते हुए सामाजिक मिश्रण और संवाद की संभावनाओं से दूर रखता है। यह दूरी जीवन में मानसिक-शारीरिक तौर पर हिंसात्मक दुनिया सृजित करती है। इसलिए ही विनोद का जीवन परंपरागत मूल्यों की हिंसात्मकता को चुनौती देकर अपने शरीर-मन को मुक्त करने की संघर्षमयता का दूसरा नाम है, अपने जैविक-सांस्कृतिक अस्तित्व को सकारात्मक स्वचालित-आत्मनिर्भर मूल्यों के बल पर रूपायित करने का श्रम है, जिसका संघर्षात्मक उल्लेख उपन्यास में अनुपम बन पड़ा है। अनुपमता इसमें भी है कि वह अपने इतर को भी मुक्ति-संग्राम में शरीक होने के लिए प्रेरित करता है और उसके लिए अनुरूप बहुस्वरता व समावेशी जीवन-पद्धति के विकास के लिए उपयुक्त राजनीतिक कार्रवाइयों में भी भाग लेता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि हर इनसान के पास विशेष विभूतियां रहती हैं, हर इनसान संसाधन संपन्न है। विनोद का दर्शन यही रहा है कि व्यक्ति की आंतरिक गुणवत्ता का मान-सम्मान हो। नैसर्गिक संसाधनों से संपन्न 'इतर' के प्रति द्वेष-ईर्ष्या का भाव रखना सहकारात्मक जीवन-पद्धति का लक्षण नहीं हो सकता है, नहीं होना भी चाहिए। स्त्री-पुरुष की पथरीली संकल्पना सोपानीकृत जीवन दृष्टि विकसित करती है, वह जीवन में एकरसता का विष भरती है। उपन्यास सामाजिक स्तरीकरण की गुप्त क्रिया को छुपाकर रखती नहीं है। वह सामाजिक विभेदीकरण-बहिष्कार को विशिष्ट प्रकार की सांस्कृतिक निरंतरता के रूप में देखता है। उसकी अपनी गूढ़ संहिता है, शासन-अनुशासन है। वह संहिता मानव की स्वतंत्रता-समानता-बंधुता को पोषित नहीं करती है, ऐसी संहिताबद्धता सामाजिक विकास के लिए हितकर नहीं माना जा सकता है। उपन्यास में विनोद और उसकी मां जिस 'धार्मिकता' का अवलंबन करते हैं, वह जनतंत्रात्मक है। लेकिन पूरा समाज परंपरानुमोदित संकल्पनाओं का अंधा अनुकरण कर हिजड़ों के जीवन में हल्ला मचाता है।

उल्लेख किया जा चुका है कि मुद्गल का उपन्यास अपने राजनीतिक तेवर को छोड़ता नहीं है। संगठित होकर शक्तिसंपन्न होने की लोकतंत्रात्मक पद्धति को इतर लैंगिकता से संपन्न लोग उपन्यास में अपनाते हैं। 'युवामोर्चा' नामक राजनीतिक संगठन के नेतृत्व में तथा 'विधायकजी' के निर्देश में सभा आयोजित की जाती है। इस सभा में किन्नरों के अलावा अन्य सामाजिक सदस्य भी भाग लेते हैं। ऐसी सभा अपने आप में किन्नरों की राजनीतिक जागरूकता की निशानी है। संगठन से शक्ति प्रदर्शनी करते हुए, सामाजिक क्रियाओं में सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करते हुए, लोकतंत्रात्मक चुनाव की व्यवस्था में भाग लेते हुए मात्र सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को नए ढंग से रूपायित किया जा सकता है। विनोद के सामाजिक-राजनीतिक कार्यों के माध्यम से उपन्यास जीवन को निरंतर लोकतंत्रात्मक रीति से रचने की दार्शनिकता को सामने रखता है। इस दार्शनिकता को विनोद वहन करता है। सामाजिक सहकारिता और मेल-मिलाप की संस्कृति के सूक्ष्म राजनीतिक स्वरूप से विनोद परिचित है। एक बार सभा में विनोद स्वागत भाषण दे रहा था। उसमें वह सबके साथ लय-विलय होकर जीने की इच्छा को व्यक्त करता है। उसकी राय में सामाजिकता में ही जीवन की अर्थवत्ता है। उस वक्त जब बैठक में विनोद के स्वागत में तालियां बज उठीं तो विनोद के मन में बेसुर का भाव जग उठता है। वह इसलिए हुआ कि किन्नरों को छोड़कर अन्य लोगों की ताली बजाने का लहजा किन्नरों से भिन्न था। यह अलगाव वास्तव में परंपरा द्वारा समर्थित

सांस्कृतिक-सामाजिक व्यवहार की भिन्नता से उपजा हुआ है। अतः इसका विरोध विनोद करता है और मिल-जुलकर एक ही ताल में तालियां बजाने का निदेश देता है। उपन्यास में इस घटना का जिक्र इस प्रकार हुआ है- "स्वागत में उन्होंने तालियां बजाईं। उनकी तालियां सहयोगी तालियों से अलग थीं। अलग-थलग पड़ गयी थीं।/ मैंने कहा,/आपने मेरा स्वागत ठीक से नहीं किया।/एक लहीम शहीम कद चौथी पंक्ति की दाहिनी ओर बैठा उठ खड़ा हुआ। उसी तर्ज में ताली पीटता हुआ।/'हाय मेरे रज्जा, चल तू ही बता दे न कैसे करें तेरा स्वागत!/हंसी के बेतहाशा छूटे फव्वारे पहली पंक्ति से लेकर सभागृह की आखिरी पंक्ति तक ऊम-चूम होते सभी को गुदगुदा गए।/मैंने कहा।/बता दूं? मेरी ताली के साथ अपनी ताली की लय जोड़ें।/मेरी ताली आप सबके स्वागत में बजेगी। आप की ताली मेरे स्वागत में।/बा, यकीन कर!/तू होती यहां उस सभागार में, विस्मय से तेरी आंखें फट जातीं।/उनके स्वागत और सम्मान में बजी मेरी ताली के साथ, उनकी तालियां आदतन छोटी-मोटी बहकन में बहक उसी लय और ताल में बजने लगीं।/पलों तक करतल ध्वनि गूंजती रही। गूंजती रही।"[6] जीवन की सामाजिकता की सुंदरता का सूक्ष्म रूप उपन्यास का अध्येता यहां अनुभव करता है। विनोद जानता है कि सामाजिकता एक मूल्य है, जिसका पोषण हरदम किया जाना चाहिए। इस सभा में विनोद अपने जोश भरे भाषण के माध्यम से मनुष्य-मनुष्य के बीच में भिन्नता की दीवारें खड़े करने वाले लोगों की आखें खोलने की बात उठाता है। सभी प्रकार के आंतरिक-बाह्य विभेदीकरण को विनोद अस्वीकार करता है। भाषण के बाद विधायकजी के पी.ए. तिवारी जी का फोन आया तो वह अगले प्रेस कांफ्रेंस की बातें करता है और उसमें आरक्षण की बात को शामिल करने के लिए ज़ोर देता है। विनोद तो तिवारी को यह अहसास दिलाना चाहता है कि किन्नरों को पार्श्व में न रखते हुए आगे ले आने का काम अगर कोई भी राजनीतिक दल करना चाहता है तो सबसे पहले उन्हें इज्जत भरी निगाहों से देखने की सख्त ज़रूरत है। भाषण समाप्त होने के पश्चात विनोद मंच से उतरने लगता है तो एक बूढ़े किन्नर ने उसे घेर लिया। विनोद की बातों से वह बहुत हिल चुका था कि उसकी आंखें भर उठी थीं। उन्हें सबसे पहले यह शक होता है कि विनोद किन्नर बिरादरी का है या नहीं। और यह भी शंका थी कि विनोद को किसी राजनीतिक दल ने अपने फायदे के लिए भेजा है। जब उसे विनोद की असलीयत का पता चलता है तो अपने अंदर की कड़वाहट को सामने रखता है। उसकी आधी सी अधिक जिंदगी तो अंधी गलियों में गुज़र चुकी है। वह यह भी बताता है कि उसके पिता ने उसे गुरू बिल्ली मौसी के हाथ सौंप दिया था। जब वह बड़ा होकर घर वापस गया तो पिता डंडा लेकर पीछे-पीछे दौड़े और गांव से ही बाहर कर दिया। खुद पिता द्वारा उपेक्षित वह किसके आश्रय में जा सकता है? स्थिति-परिस्थिति बहुत ही जटिल है। आगे हम देखते हैं कि अपने को 'अदर्स' की कोटि में रखते हुए बहिष्कृत करने के राजनीतिक प्रयास को विनोद चुनौती देता है। भारत के संवैधानिक प्रावधानों के तहत किन्नर न अनुसूचित जाति का है, न अनुसूचित जनजाति का है, न अन्य पिछड़े वर्ग का है या न किसी अन्य वर्ग का है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि अनेक प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों से किन्नर वर्ग उपेक्षित है। विनोद जानता है कि 'अंदर्स' शब्द का कोई राजनीतिक महत्व नहीं होता है। मनुष्य का किन्नर रूप में जन्म लेना दोष नहीं है, फिर भी अनेक अधिकारों से उनको वंचित करना कहां का न्याय है? किन्नर समूह यह पूछता है कि जिस प्रकार मनुष्य जैविक क्रियाओं का

निर्वाह करता है उसी प्रकार किन्नर समूह भी करता हैं। उपन्यासकार की दलीलें सुनिए- "किन्नरों को सरकार 0 अदर्स में न रखे तो कहां रखें? लिंग ही से तो वर्गीकरण किया गया है?"/मेरा जवाब था बा,'वहीं, जहां सरकार ने अनुसूचित जनजाति को रखा है।/पिछड़ा वर्ग को रखा है।/विकलांग वर्ग को रखा है।/और बहुतों को रखा है।'/ 'ये सब समाज के घोर वंचित वर्ग हैं। लिंग दोषी नहीं। बाकायदा स्त्री-पुरुष हैं।'/'लिंग दोषी सभी लिंग से स्त्री-पुरुष नहीं हैं तो क्या मनुष्य नहीं हैं? पेशाब भी करते है, पाखाने भी जाते हैं।/हां, उन सबकी तरह वीर्य नहीं उगल सकते। मैथुन नहीं कर सकते। इसका मतलब यह नहीं, ये मनुष्य नहीं हैं?/किन्नर बिरादरी का संघर्ष उन्हें मनुष्य माने जाने का संघर्ष है।/फिर 0 अदर्स में उन्हें क्यों ढकेला जा रहा है। 0 अदर्स को खत्म कर देना चाहिए, सरकार को।/देखिए, मेरा मानना यह अपना लिंग उन्हें चुनने की स्वतंत्रता दीजिए। यही मैं सोचता रहा हूं। मानता भी आया हूं। आज आप सबके सामने वही सब दोहरा रहा हूं। विमर्श कीजिए इस मुद्दे पर..."[7] इससे समाज के सामान्य अवबोध के भीतर के अमानवीय कृत्य का बोध हमें मिलता है। इन दलीलों का एकमात्र उद्देश्य समाज के अन्य सदस्यों की भांति जीने का अधिकार प्राप्त करना होता है, आत्मनिर्भर होकर ससम्मान जीना होता है। उपन्यास में यही जीवन-दृष्टि शूरू से लेकर अंत तक मुखरित हुई है। उपन्यास के निम्नलिखित वाक्य इस तथ्य के सबूत हैं, कृपया पढ़ें- "उन्हें अलग से इस रूप में चिह्नित करना घोर अमानवीय कृत्य है। किन्नर चाहे जिस भी वर्ग की संतान हों, चाहे जिस जाति-बिरादरी, समुदाय से संबंधित हों, उसी जाति वर्ग के अनुसार उन्हें अपना सामान्य जीवन जीने की सुविधा मिलनी चाहिए। अगर वे आरक्षित श्रेणी के माता-पिता की सन्तानें हैं तो वे उस आरक्षित श्रेणी को प्राप्त होने वाली सुविधाओं की हकदार हैं। समर्थ माता-पिता के समक्ष उनके समुचित भरण-पोषण की दिक्कत है ही नहीं। उन्हें जरूरत है तो जागरूकता की।/देखिए, शिक्षित और स्वावलंबी होकर ही वह समाज की मुख्यधारा से जुड़ सकते हैं।"[8]

संदर्भ

1. एतिरन कतिरवन, स्वर्गानुरागम भ्रूणत्तिन्डे तीरुमानमाणु, मातृभूमि साप्ताहिक, 15 मार्च 2015, पृ. 31.
2. राजेश्वरी तुलसी, टीजी (ट्रांन्स जेंडेर्स), वायनप्पुरा पब्लिकेशन्स, एरनाकुलम, 2019, पृ. 68.
3. मुद्गल, चित्रा. पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, 2019. पृ. 222.
4. वही, 71.
5. वही, 33.
6. वही, 183.
7. वही, 195.
8. वही, 195-6.

* हिंदी विभाग, कालिकट विश्वविद्यालय, केरल-673635 Mail: hebbar@uoc.ac.in

मोबाईलः 9446661250

**शोधार्थी, कण्णूर विश्वविद्यालय, केरल